राजा भोज, एवं देवालय की वास्तु शैली : एक अवलोकन

रिपुदमन चंद्र[1]

शोधपत्र सारांश - महाराजा भोज ने मालवा प्रदेश के प्रत्येक नगर ग्राम में अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया था जिनकी शैली अधिकतर नागर है। महाराजा भोज बहुत बड़े वीर, प्रतापी, पंडित और गुण-ग्राही थे। इन्होंने अनेक देशों पर विजय प्राप्त की थी और कई विषयों में अनेक ग्रंथों का निर्माण किया था। इनका समय १० वीं ११ वीं शताब्दी माना गया है। राजा भोज की ख्याति एक उत्कृष्ट कवि, दार्शनिक और ज्योतिषी के रूप में भी थी। कहा जाता है कि उन्होंने ज्ञान के सभी क्षेत्रों में रचनाएँ की है ।जैसे धर्म, खगोल विद्या, कला, कोशरचना, भवननिर्माण, काव्य, औषधशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखी थीं जो अब भी विद्यमान हैं। उनकी वास्तुशैली का विशेष अध्ययन प्रस्तुत शोधपत्र एन किया गया है।

कूट शब्द - महाराजा भोज, मालवा, नागर, १० वीं ११ वीं शताब्दी, धर्म, खगोल विद्या, कला, कोशरचना, भवननिर्माण, काव्य, औषधशास्त्र, वास्तुशैली, राजनीति, आयुध, द्विपदयान, चतुष्पदयान, अष्टदोला, नौका-जहाज।

महाराजा भोज परमार या पंवार वंश के नवें राजा थे[2]। जो मालवा के नरेश थे तथा उनकी राजधानी धारानगरी (धार) थी। मालवा प्रदेश के प्रत्येक नगर नगर में ग्राम ग्राम में इन्होंने अनेकों छोटे बड़े मंदिरों का निर्माण करवाया था जिनकी शैली अधितर नागर है। किन्तु वर्तमान समय मे अंश मात्र मंदिर ही स्थित रह गए हैं। महाराजा भोज बहुत बड़े वीर, प्रतापी, पंडित और गुण-ग्राही थे। इन्होंने अनेक देशों पर विजय प्राप्त की थी और कई विषयों में अनेक ग्रंथों का निर्माण किया था।

---

[1]महाराजा श्री रामचंद्रभंजा देव विश्वविद्यालय, द्वितीय परिसर, क्योंझर,ओडिशा।

[2]विजयेन्द्र कुमार माथुर 1990, पृ॰ ३१९।

इनका समय १० वीं ११ वीं शताब्दी माना गया है । राजा भोज की ख्याति एक उत्कृष्ट कवि, दार्शनिक और ज्योतिषी के रूप में भी थी। कहा जाता है कि उन्होंने ज्ञान के सभी क्षेत्रों में रचनाएँ की है ।जैसे धर्म, खगोल विद्या, कला, कोशरचना, भवननिर्माण, काव्य, औषधशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखी थीं जो अब भी विद्यमान हैं। धारानगरी (धार) में भोज शोध संस्थान में राजाभोज के रचित ग्रन्थों का संकलन है। जिसमें राजाभोज के रचित 84 ग्रन्थों में केवल 21 ग्रन्थ ही वर्तमान में उपलब्ध हैं। जिनमे से सरस्वतीकण्ठाभरण, श्रृंगारमञ्जरी, चम्पूरामायण, चारुचर्या, तत्वप्रकाश, व्यवहारसमुच्चय, समरांगण सूत्रधार आदि अनेक ग्रन्थ इनके लिखे हुए बतलाए जाते हैं। उनमें से प्रमुख हैं[3] -

1. राजमार्तण्ड (पतंजलि के योगसूत्र की टीका)
2. सरस्वतीकंठाभरण (व्याकरण)
3. सरस्वतीकण्ठाभरण (काव्यशास्त्र)
4. श्रृंगारप्रकाश (काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र)
5. तत्त्वप्रकाश (शैवागम पर)
6. वृहद्राजमार्तण्ड (धर्मशास्त्र)
7. राजमृगांक (चिकित्सा)
8. विद्याविनोद

युक्तिकल्पतरु - यह समस्त रचनाओं में यह ग्रन्थ अद्वितीय है। इस एकमात्र ग्रन्थ में अनेक विषयों का संकलन व वर्णन प्राप्त होता है। राजनीति, वास्तु, रत्नपरीक्षा, विभिन्न आयुध, अश्व, गज, वृषभ, महिष, मृग, अज-श्वान आदि पशु-परीक्षा, द्विपदयान, चतुष्पदयान, अष्टदोला, नौका-जहाज आदि के सारभूत तत्त्वों का भी इस ग्रन्थ में संक्षेप में सन्निवेश है। विभिन्न पालकियों और जहाजों का विवरण इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। विभिन्न प्रकार के खड्गों का सर्वाधिक विवरण इस पुस्तक में ही प्राप्त होता है। इनकी सभा सदा बड़े बड़े पण्डितों से सुशोभित रहती थी। यह स्वयं विद्वान और विद्वानों का आश्रय प्रदान करने वाले विनम्र राजा भी थे। इनकी पत्नी का नाम लीलावती था जो बहुत बड़ी विदुषी थी। जब महाराजाभोज जीवित थे तो उनके विषय कहा जाता था -

अद्य धारा सदाधारा सदालम्बा सरस्वती।
पण्डिता मण्डिताः सर्वे भोजराजे भुवि स्थिते॥ [4]

[3] Samarangana Sutradhara of Bhojadeva: An Ancient Treatise on Architecture in Two Volumes)". मूल से 14 सितंबर 2015 को पुरालेखित. अभिगमन तिथि 25 अगस्त 2015।

[4]तिलकमन्जरी, घनपालवीरचित निर्णयसागर मुद्रालय मुंबई, प्रकाशन बर्ष 1903।

(आज के वर्तमान समय में स्वयं महाराजा भोजराज के इस धरती पर स्थित होने से यह धारा नगरी सदाधारा समान है (अच्छे आधार वाली) है; माँ सरस्वती को सदा आलम्ब प्राप्त हुआ प्रतीत होता है; तथा सभी पण्डित जन, विद्वान जन कवि जन यहाँ इस उत्तम आधार वाली धरती पर आदृत हैं।) तथा जब राजाभोज का देहान्त हुआ तो कहा गया था -

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवं गते॥[5]

(आज जब महाराज भोज का स्थूल शरीर पंचतत्व में विलीन हो चुका है इनका स्वर्ग के लिए प्रस्थान हो चुका है, इनका स्वर्गवास हो चुका है, इनके दिवंगत हो जाने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे इस धारा नगरी के समस्त चराचर प्राणी पेड़,पौधे,शिलाएं,पशु,पक्षी यह सब निराधार हो कर विलाप कर रहें हैं। स्वयं यह सम्पूर्ण धारा नगरी निराधार हो गयी है ; स्वयं माँ सरस्वती जो कभी सदालम्बा हुआ करती थी जो आलम्ब को प्राप्त हुई सदा प्रतीत होती थी वह आज बिना आलम्ब की हो गयी हैं और सभी पंडितजन,विद्वानजन, कवि जन मानो खंडित से हो गएं हों ऐसा प्रतीत हो रहा है।

महाराजभोज का साम्राज्य : उदयपुर की ग्वालियर प्रशस्ति में लिखा है कि सम्राट भोज का राज्य उत्तर में हिमालय से, दक्षिण में मलयाचल तक और पूर्व में उदयाचल से पश्चिम में अस्ताचल तक फैला हुआ था। इस सम्बन्ध में निम्न श्लोक इस प्रकार है -

आकैलासान्मलयर्गिरतोऽ स्तोदयद्रिद्वयाद्वा।
भुक्ता पृथ्वी पृथुनरपतेस्तुल्यरूपेण येन॥[6]

अन्य विद्वानों मतानुसार सम्राटभोज का राज्य लगभग समस्त भारतवर्ष पर ही था। इनका अधिकार पूर्व में डाहल या चेदि, कन्नौज, काशी, बंगाल, बिहार, उड़ीसा और आसाम तक था। दक्षिण में विदर्भ, महाराष्ट्र, कर्णाट और कांची तक तथा पश्चिम में गुजरात, सौराष्ट्र और लाट तक, तथा उत्तर में चित्तौड़ साँभर और काश्मीर तक था। चम्पू रामायण में भोज को विदर्भ का राजा कहाँ गया है और विदर्भराज की उपाधि से विभुषित किया गया है[7]। भोज के राज्य विस्तार को दर्शाता हुआ और एक श्लोक इस प्रकार है -

केदार-रामेश्वर-सोमनाथ-सुण्डीर-कालानल-रूद्रसत्कैः।
सुराश्रयैर्व्याप्य च यःसमन्ताद्यथार्थसंज्ञां जगतीं चकार॥

यहां स्पष्ट होता है कि भोज ने अपने साम्राज्य के पूर्वी सीमा पर सुंदरवन स्थित सुण्डिर, दक्षिणी सीमा पर रामेश्वर, पश्चिमी सीमा पर सोमनाथ तथा उत्तरी सीमा पर केदारनाथ जैसे विख्यात

[5] तत्रैव

[6] एपिग्राफिया इंडिका.भाग.१.पृ.२३५. श्लो.१७.। राजा भोज, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेणु, पृ. 125, इलाहाबाद, हिंदुस्थानी एकेडेमी, यु. पी. 1932।

[7] एपिग्राफिया इंडिका. भाग.१. पृ.२३६.श्लो.२०.।

मंदिरों का निर्माण तथा पुर्ननिर्माण किया था। भोज ने काश्मीर में कुण्ड भी बनवाया था। भोज के साम्राज्य विस्तार पर विद्वानों में थोडा मतभेद देखने को मिलता है क्योंकि भोज की साम्राज्य सीमाएं विस्तृत तो थी किंतु थोड़ी अस्थिर रही[8]। भोज का काश्मीरराज्य भी इतिहास में दर्ज है। विश्वेश्वरनाथ रेणु ने राजा भोज से सम्बन्धित राज्यों की सुचि में काश्मीरराज्य के विषय में लिखा है कि राजा भोज ने सुदूर काश्मीरराज्य के कपटेश्वर (कोटेर) तीर्थ में पापसूदन का कुण्ड बनवाया था और वह सदा इसी कुंड के लाए हुए जल से मुँह धोया करता थे। इस कुण्ड का जल लाने के लिए उन्होंने विशेष प्रबंध कर रखे थे[9]।

देवालय वास्तु : - सर्व प्रथम वास्तु क्या है इसका प्रादुर्भाव कैसे हुआ तो इस विषय मे मत्स्यपुराण अध्याय 252 के श्लोक संख्या 5 और 6 से स्पष्ट होता है कि भगवान शंकर ने जब अंधकासुर के वध के समय विकराल रूप धारण किया था तथा उस विकराल रूप धारी शरीर से जब युद्ध किया था उस समय भगवान शंकर के ललाट से पृथ्वी पर उनके स्वेदविन्दु गिरे थे। उन्ही स्वेद विन्दुओं से एक भीषण एवं विकराल मुख वाला प्राणी प्रकट हुआ था।

ललाटस्वेदसलिलमपतद् भुवि भीषणम्।
करलवादनं तस्माद् भूतमुदभूत मुल्बणम्॥ [10]

वह ऐसा प्रतीत होता था मानो सप्तद्वीपों समस्त वसुंधरा तथा आकाश को निगल जाएगा। फिर वह प्राणी युद्ध भूमि में गिरे हुए अंधकों के रक्त का पान करने लगा किन्तु उसकी भूख फिर भी शांत न हुई तो वह सदा शिव के सम्मुख त्रिलोक भक्षणार्थ अत्यंत घोर तपस्या करने लगा। शङ्कर से वरदान पाकर वह त्रिलोकभक्षण हेतु उद्यत हुआ तो भयभीत हुए सस्मत देवताओं तथा ब्रह्मा, शिव, दानव, दैत्य और राक्षसों द्वारा वह एक ही जगह स्तम्भित कर दिया गया। इस समय जिस जिस देवता राक्षस ने उसे जिस जिस स्थान और आक्रांत कर रखा था वह वहां निवास करने लगा।इस प्रकार वह सभी देवताओं के निवास करने के कारण वह वास्तु नाम से विख्यात हुआ।

येन यत्रैव चक्रान्तं स तत्रैवावसत् पुनः।
निवासात् सर्वदेवानां वास्तूरित्यभिधीयते॥[11]

इसी प्रकार बृहद्वास्तुमालाकार पण्डित रामनिहोर द्विवेदी जी अपने ग्रन्थ बृहदवास्तुमाला में वास्तुपुरुष स्वरूप के वारे में लिखते हैं कि सतयुग के आरम्भ में एक महान प्राणी उत्तपन्न हुआ, जो अपने विशालकाय शरीर से समस्त भुवनों यानी 14 भुवनों तक व्यापत था, इस विशाल आकार

[8] राजा भोज. श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेणु, इलाहाबाद, हिंदुस्थानी एकेडेमी, यु. पी. 1932।
[9] राजा भोज. श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ. पृ.235.इलाहाबाद.हिंदुस्थानी एकेडेमी, यु. पी.1932।
[10]मत्स्यमहापुराण, प्रकाशक गीताप्रेस गोरखपुर, चौदहवाँ मुद्रण, पृ. ९७२ ,अध्याय वास्तु प्रादुर्भाव कथा - 6।
[11]मत्स्यमहापुराण ,प्रकाशक गीताप्रेस गोरखपुर, चौदहवाँ मुद्रण, पृ. ९७२ ,अध्याय वास्तु प्रादुर्भाव कथा- 16।

वाले प्राणी को देख कर देवराज इंद्र सहित सभी देवता गण भयभीत एवं आश्चर्यचकित थे, तदुपरांत उन्होंने क्रुद्ध हो कर उस असुर को पकड़ कर उसका सिर नीचे करके भूमि में गाड़ दिया और स्वयं वहाँ खड़े रहे। इसी का नाम ब्रह्मा ने 'वास्तु पुरुष' रखा।

पूरा कृतयुगे ह्यासीन्महद्भूतं समुत्थितम्।
व्याप्यमानं शरीरेण सकलं भवनं ततः।।
तद् दृष्टवा विस्मयं देवा गताः सेन्द्रा भयवृताः।
ततस्तैः क्रोधसन्तप्तैरगृहीत्वा तमथासुराम्।।
विनिक्षिप्तमधोवक्त्रं स्थितास्तत्रैव ते सुराः।
तमेव वास्तुपुरुषं ब्रह्मा कल्पितवान् स्वयम्।।[12]

जिसप्रकार मनुष्य के लिए गृहनिर्माण जीवन की एक आवश्यक प्रक्रिया है उसी प्रकार हमारे सनातन धर्म में विभिन्न स्थानीयनिय देवी, देवताओं के मंदिर, प्रासाद आदि का निर्माण भी हमारे जीवन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रक्रिया का अंश है और हर क्रिया का विधान निर्धारित है। भवन, प्रासाद, राजप्रासाद आदि की निर्माण क्रिया का जो सिद्धान्त निर्धारित है, उसे 'वास्तुशास्त्र' का नाम दिया गया है। महाराज भोज द्वारा रचित समरांगण सूत्रधार नामक ग्रन्थ में लिखा है कि सम्पूर्ण रूप से विधिविधान से एवं उत्तम ढंग से बनाया गया भवन सुख संपति, बुद्धि, सन्तान एवं मानसिक शांतिदायक होता है। उसमें वास करने वाला व्यक्ति सदा ऋणमुक्त रहता है। वास्तुशास्त्रियों में विश्वकर्मा एवं मय दानव को अत्यधिक महत्व प्राप्त है। भारत मे मुख्यत: दो प्रकार के निर्माण उपलब्ध हैं, एक है उत्तर शैली के और दूसरे हैं दक्षिण शैली के। इन दोनों में काफी अंतर है दक्षिण भारत मे जो मंदिर, प्रासाद आदि वने हुए हैं। उत्तर में वैसे निर्माण नहीं है। निर्माण कार्यों की दो विभिन्न परंपराएं हैं। जिन्हें दक्षिणी एवं उत्तरी निर्माण कला कहा जाता है। उत्तरी निर्माण कला के लिए हमें विश्वकर्मा प्रकाश एवं समरांगण सूत्रधार को लेना चाहिए तथा दक्षिणी कला के लिए हमें विश्वकर्मीय शिल्प तथा मानसर को सन्दर्भ के रूप में लेना चाहिए।

समरांगण सूत्र धार वास्तु के सहस्त्रों रहस्यों का उद्घाटन करता है। यह एक बृहद ग्रन्थ है,जिसकी रचना 11 वीं सदी में हुई थी।राजा भोज द्वारा प्रस्तुत यह ग्रन्थ वास्तुशास्त्र के मूलभूत सिद्धांतो से ओतप्रोत है। समरांगण सूत्रधार नामक ग्रन्थ में देव प्रतिमा- वास,भवन -निर्माण,देव-प्रतिष्ठा,सभा-भवन, प्रार्थना-भवन निर्माण के विषय मे विस्तृत विवेचन हुआ है।

राजा भोज जिनका राज उत्तरी हिमालय से लेकर दक्षिणी मलयाचल तक फैला हुआ था तथा पूर्व उदयांचाल से पश्चिम के अस्तांचल तक फैला हुआ था उसी के अनुरूप राजा भोज ने जिन जिन

[12] बृहदवास्तुमाला,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, संस्करण 2014 पृ. 1 , श्लोक 1,2,3.।

मंदिरों का प्रासादों का निर्माण करवाया था या पुनर्निर्माण करवाया था वह सभी आज नागर शैली के अंतर्गत रखें जाते हैं या यों कह सकते हैं नागर शैली नाम से प्रसिद्ध है। इस शैली का प्रसार हिमालय से लेकर विंध्य पर्वत माला तक देखा जा सकता है। वास्तुशास्त्र के अनुसार नागर शैली के मंदिरों की पहचान आधार से लेकर सर्वोच्च अंश तक इसका चतुष्कोण होना है। विकसित नागर मंदिर में गर्भगृह, उसके समक्ष क्रमशः अन्तराल, मण्डप तथा अर्द्धमण्डप प्राप्त होते हैं। एक ही अक्ष पर एक दूसरे से संलग्न इन भागों का निर्माण किया जाता है।

नागर शैली के अङ्ग :- 'नागर' शब्द नगर से बना है। सर्वप्रथम नगर में निर्माण होने के कारण इन्हे नागर की संज्ञा प्रदान की गई। शिल्पशास्त्र के अनुसार नागर मंदिरों के आठ प्रमुख अंग है[13]।

(१) मूल आधार - जिस पर सम्पूर्ण भवन खड़ा किया जाता है।
(२) मसूरक - नींव और दीवारों के बीच का भाग
(३) जंघा - दीवारें (विशेषकर गर्भगृह की दीवारें)
(४) कपोत - कार्निस
(५) शिखर - मंदिर का शीर्ष भाग अथवा गर्भगृह का उपरी भाग
(६) ग्रीवा - शिखर का ऊपरी भाग
(७) वर्तुलाकार आमलक - शिखर के शीर्ष पर कलश के नीचे का भाग
(८) कलश - शिखर का शीर्षभाग

नागर शैली का क्षेत्र उत्तर भारत में नर्मदा नदी के उत्तरी क्षेत्र तक है। परंतु यह कहीं-कहीं अपनी सीमाओं से आगे भी विस्तारित हो गयी है। नागर शैली के मंदिरों में योजना तथा ऊँचाई को मापदंड रखा गया है। नागर वास्तुकला में वर्गाकार योजना के आरंभ होते ही दोनों कोनों पर कुछ उभरा हुआ भाग प्रकट हो जाता है जिसे 'अस्त' कहते हैं। इसमें चांड़ी समतल छत से उठती हुई शिखा की प्रधानता पाई जाती है। यह शिखा कला उत्तर भारत में सातवीं शताब्दी के पश्चात् विकसित हुई अर्थात परमार शासकों ने वास्तुकला के क्षेत्र में नागर शैली को प्रधानता देते हुए इस क्षेत्र में नागर शैली के मंदिर बनवाये।

वृहदवास्तुमाला के अनुसार देवालय के निर्माण के विधान के विषय मे बृहदवास्तुमालाकार पण्डित रामनिहोरद्विवेदी जी लिखते हैं -- देवालय का जो विस्तार है, उससे दुगुनी ऊंचाई मंदिर की होती है। जैसे देवालय के मध्य का विस्तार यदि 32 हाथ है तो उसकी ऊंचाई 64 हाथ होनी चाहिए। ऊँचाई का तीसरा भाग (२१ हाथ ८ अंगुल) मंदिर का कटि प्रदेश होना चाहिए। देवालय के विस्तार का आधा यानी यदि हम 32 विस्तार के अनुसार देखें तो(१६ हाथ) गर्भ गृह होना चाहिए। गर्भ के

[13] "मंदिरों का सामान्य इतिहास व विवरण". देवस्थान विभाग देवस्थान राजस्थान. २६ अप्रैल २०१८.।

चारों ओर जो दीवार होती है। इसमें एक हाथ भूमि परिक्रमा क्क लिए रख कर शेष तीन हाथ भूमि में दीवार का निर्माण करना चाहिए । गर्भ का जितना विस्तार हो यानी हमारे मान के अनुसार (१६ हाथ) गर्भ का विस्तार तो उस मान का चतुर्थांश यानी (४ हाथ) मान का उसका प्रवेश द्वार होना चाहिए । द्वार की ऊंचाई द्वार के मान से दोगुना होनी चाहिए, यानी (८ हाथ)। द्वार की ऊंचाई का चतुर्थांश यानी (२ हाथ) शाखाविस्तार होगा । उसी तरह उदुम्बर यानी (शाखा के ऊपर और नीचे वाला काष्ठ भी रखना चहिये ।) शाखा का जो विस्तार हो उसकी चतुर्थांश शाखाओं की मोटाई होनी चाहिये। यदि वह द्वार ३,४,५,७,९ शाखाओं से युक्त हो तो उत्तम माना गया है ।

शाखाविस्तार यदि ३ से पूरा न हो तो ५ से पूरा करें यदि ५ से भी पूरा न हो तो ७ से पूरा करें यदि ७ से भी पूरा न हो तो ९ से पूरा करने का विधान है। शाखा का नीचे का जो भाग है , उसके चतुर्थांश से प्रतिहारों (नन्दी ,दण्ड आदि) को रखें। शेष तीन भागों में हंस आदि माँगलिक पक्षी , श्रीवृक्ष, वास्तुपुरुषं, २ स्वस्तिक ,घट रखें। लता पत्र आदि से से द्वार की शोभा को शोभित करें। द्वार की ऊंचाई का जो अष्टमांश हो, उसको द्वार की ऊंचाई में घटा कर सपिण्डी की प्रतिमा बनावें, उसमे भी दो भाग प्रतिमा और एक भाग पिण्डिका होती है।

जैसे मेरु की ऊंचाई यदि 8 हाथ है ; उसका अष्टमांश 1 हाथ हुआ। इसे 8 में घटाने पर 7 शेष रहा, इसमें दो भाग यानी (४ हाथ १६ अंगुल) प्रतिमा का प्रमाण और उसी का तीसरा भाग यानी (2 हाथ ८ अंगुल) पिण्डी का प्रणाम करें, इसी प्रकार सभी प्रकार के प्रासादों के निर्माण का विधान बृहदवास्तुमालाकार द्वारा अपने ग्रन्थ में देवालयविधानम् में बताया गया है।

यो विस्तारो भवेद्यस्य द्विगुणा तत्समुन्नतिः।
उच्छ्रायाद् यस्तृतीयांशस्तेन तुल्याः कटिः स्मृता॥
विस्तारार्धं भवेद्गर्भो भित्तयोऽन्याः समन्ततः।
गर्भपादेन विस्तीर्ण द्वारं द्विगुणमुच्छ्रितम्॥
उच्छ्रायात् पादविस्तीर्णा शाखा तद्वदुदुम्बरः।
विस्तारपादप्रतिमं बाहुल्यं शाखयोः स्मृतम्।
त्रिपञ्चसप्तनवभिः शाखाभिस्तत् प्रशस्यते
अधः शाखाचतुर्भागे प्रतीहारौ निवेशयेत्॥
शेषं मङ्गल्यविहगैः श्रीवृक्षैः स्वस्तिकैर्घटैः।
मिथुनैः पत्त्रवल्लीभिः प्रमथैश्चोपशोभयेत्॥
द्वारमानाष्टभागोना प्रतिमा स्यात् सपिण्डिका।
द्वौ भागौ प्रतिमा तत्र तृतीयांशश्च पिण्डिका॥[14]

[14]बृहदवास्तुमाला,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, संस्करण 2014 पृ.१८२/१८३, श्लोक 11,से 16।

यहाँ प्रासादों के प्रकार भी बताए गए हैं की 20 प्रकार के प्रासाद यानी देवालय होते हैं। क्रमशः १ मेरु, २ मन्दर, ३ कैलास, ४ विमानच्छद, ५ नन्दन ६ समुद्र, ७ पद्म, ८ गरुड़, ९ नन्दिवर्धन, १० कुञ्जर, ११ गुहराज, १२ बृष, १३ हंस, १४ सर्वतोभद्र, १५ घट, १६ सिंह, १७ वृत, १८ चतुष्कोण, १९ षोडशाशश्रि, २० अष्टाश्रि।[15] इसी प्रकार मत्स्य पुराण में भी 21 प्रकार के देवालयों का वर्णन हैं जिनके नाम क्रमशः हैं - मेरु, मन्दर, कैलास, कुम्भ, सिंह,मृग, विमान, छंदक, चतुरस्र, अष्टास्र, षोडशास्र, वर्तुल, सर्वभद्रक,सिंहास्य, नन्दन, नन्दिवर्धन, हंस, वृष, सुवर्णेश, पद्मक और समुद्रक।[16] इन्ही प्रसादों में नागर शैली के प्रासाद हैं वह चतुष्कोणीय प्रासाद होते हैं, अर्थात उनका वास्तविक नाम प्रासादों के नामों में वास्तुशास्त्र के अनुसार चतुष्कोणीय प्रासाद धटित होता है , जो समय के साथ बदल कर नगर में निर्माण होने के कारण नागर शैली के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। बृहदवास्तुमाला में तथा मत्स्य पुराण के अनुसार प्रासादलक्षण विषय में चतुष्कोणीय प्रासाद को पँचशिखिर वाला कहा गया जो कि नागर नामक चूषकोणीय शैली में घटित होता है - **पञ्चाण्डयुतस्तु चतुरस्रः[17], चतुरस्रः पञ्चभौमः काश्यपमते[18], चतुष्कोणस्तु पंच्श्रृङ्गः[19] विमानच्छन्दकस्तद्वत् तुरस्रस्तथैव च [20]।**

वास्तुशास्त्र के इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि जो नागर शैली के प्रासाद बने हैं वह वास्तव में चतुष्कोणीय वास्तुशास्त्र के प्रासाद लक्षण के अंग है। जिन्हें बाद में नगर विशेष में निर्माण के कारण नागर शैली का नाम दिया गया। अन्यथा वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में मत्स्यपुराण के अनुसार यह शैली चतुषकोंणीय तथा चतुरस्र नाम से प्रसिद्ध है।

[15] बृहदवास्तुमाला,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी,संस्करण 2014 पृ.१८४, श्लोक 17 से 19।
[16] मत्स्यमहापुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, चौदहवाँ मुद्रण, पृ. १०२८ ,अध्याय 269 श्लोक २८,२९,३०।
[17]बृहदवास्तुमाला, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, संस्करण 2014 पृष्ठ १८७,श्लोक २८।
[18] बृहदवास्तुमाला, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, संस्करण 2014 पृष्ठ १८७।
[19] बृहदवास्तुमाला, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, संस्करण 2014 पृष्ठ १८८,श्लोक २८।
[20] मत्स्यमहापुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, चौदहवाँ मुद्रण, पृ. १०२८ ,अध्याय 269 श्लोक २८।